भट्टाकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

(राजवार्तिकम्)

द्वितीय भाग

★ अनुवादिका ★

पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

★ सम्पादक ★

डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी

★ सह-सम्पादक ★

बा.ब्र. डॉ. प्रमिला जैन

★ अर्थ सहयोग ★

श्री दुलीचन्द्र जी बाकलीवाल

गोहाटी (आसाम)

ग्रन्थ : तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्)
द्वितीय भाग

प्रणेता : भट्टाकलंकदेव

संस्करण : द्वितीय संस्करण प्रतियाँ १०००

प्रकाशन तिथि : भाद पद शुक्ला - ६ वीर निवार्ण
संवत् २५३३ सन् २००७

प्राप्ति स्थान : चुण्डीवाल कृषि फार्म हाउस, बड़का बालाजी
अजमेर रोड, जयपुर (राजस्थान)

चौधरी ऑफसेट प्रा. लि., उदयपुर (राज.)
फोन - 0294-2584071, 2485784

श्री दुलीचन्द्र जी बाकलीवाल परिवार का
धन्यवाद देते हुए आभार मानते हैं
जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में
अर्थ सहयोग देकर
ज्ञान प्रचार का कार्य किया।

केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि, एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्। न हि असत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति। इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः यावज्जीवम्। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। २८। अतिथिसंविभागश्चतुर्धा भिद्यते। कुतः? भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया, धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि, [1]औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम् प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

चशब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः। कः पुनरसौ?

मूली, गीली हल्दी, नीम के फूल आदि अनन्तकाय कहे जाने योग्य हैं (अर्थात् इनमें अनन्त साधारण निगोदिया जीव रहते हैं।) इनके सेवन में अल्प फल और **बहुविघात** होता है अतः इनका त्याग ही कल्याणकारी है। यान, वाहन, गाड़ी, रथ, घोड़ा, अलंकार आदि में 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट हैं' इस प्रकार विचार कर **अनिष्ट** से निवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि **जब तक अभिसन्धि (अभिप्राय) पूर्वक वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है तब तक वह व्रत नहीं माना जा सकता।** जो स्व को इष्ट है परन्तु शिष्ट जनों के लिये उपसेव्य नहीं है, धारण करने योग्य नहीं है ऐसे विचित्र प्रकार के वस्त्र, विकृत वेष, आभरण आदि **अनुपसेव्य** पदार्थों का यावज्जीवन परित्याग करना चाहिए। यदि यावज्जीवन त्याग करने की शक्ति नहीं हो तो अमुक समय की मर्यादा से अमुक वस्तुओं का परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए ।। २७ ।।

भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय (वसतिका) के भेद से अतिथि-संविभाग व्रत चार प्रकार का है। मोक्षार्थी, संयमपरायण, शुद्धमति अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष आहार देना चाहिए। उस मुनि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को बढ़ाने वाले पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि धर्मोपकरण भी देने चाहिए। परम श्रद्धा और भक्ति से उन यतियों के लिए योग्य औषधि और वसतिका (रहने का स्थान) भी देना चाहिए ।। २८ ।।

'च' शब्द आगे कहे जाने वाले, गृहस्थ धर्म के समुच्चय की अभिव्यक्ति के लिए हैं। 'च' शब्द से संगृहीत गृहस्थ धर्म क्या है? 'च' शब्द से गृहस्थ धर्मों में संगृहीत हुने वाली सल्लेखना है, उसका वर्णन—

---

१. औषधं प्रायोग्यं —मु. द. ब.।

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।। २२ ।।

स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्। १। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः।

अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्। २। मरणं द्विविधम्-नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्। तत्रान्तग्रहणं क्रियते तद्भवमरणपरिग्रहार्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। ३। लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनूकरणमिति यावत्। कायस्य बाह्यस्य अभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना, तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभिसम्बन्धः।

सेवितग्रहणं विस्पष्टार्थमिति चेत्; न; अर्थविशेषोपपत्तेः। ४। स्यान्मतम्—इह

मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिये ।। २२ ।।

स्व आयु, इन्द्रिय और बल का क्षय (नाश) होना मरण है। स्वकोय परिणामों से गृहीत आयु, इन्द्रिय, बलादि प्राणों का कारणवश क्षय होने को बुद्धिमान् मरण मानते (कहते) हैं ।। १ ।।

अन्त का ग्रहण तद्भवमरण की प्रतिपत्ति के लिये है। मरण दो प्रकार का है—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण स्वकोय आयु को जो निवृत्ति होती है, नाश होता है अर्थात् समय-समय में आयु के निषेक जो उदय में आकर नष्ट होते हैं वह नित्यमरण है। भवान्तरप्राप्ति के अनन्तर उपश्लिष्ट पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भवमरण कहलाता है। इस सूत्र में अन्त शब्द का ग्रहण तद्भवमरण को ग्रहण करने के लिये है। 'मरण अन्तः मरणान्त.' और मरणान्त जिसका प्रयोजन है, वह मारणान्तिक है ।। २ ।।

सल्लेखना—अर्थात् भली प्रकार काय और कषाय को कृश करना। लिख् धातु से 'ण्यि' प्रत्यय करने से 'लेखना' शब्द बनता है, उसका अर्थ तनूकरण यानी कृश करना है। बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषायों के कारणों को निवृत्तिपूर्वक क्रमशः भली प्रकार क्षीण करना सल्लेखना है। उस मारणान्तिक सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करना, धारण करना। इसको सेवन करने वाला 'गृही' होता है। अतः यहाँ 'गृही' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए ।। ३ ।।

इस सूत्र में स्पष्ट अर्थ के लिये सेविता शब्द ग्रहण करना चाहिये, जोषिता नहीं। ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर जोषिता-शब्द विशेष अर्थ की उपपत्ति के लिए है। **प्रश्न**—इस सूत्र में 'सेविता' यह शब्द स्पष्ट अर्थ के लिए कहना चाहिए 'जोषिता' नहीं? **उत्तर**—जोषिता

वस्थानानि । ४ । एकेन्द्रियादयः प्राक् व्याख्यातलक्षणाः । तत्रैकेन्द्रिया द्विविधाः—सूक्ष्माः बादराश्चेति[१] । सूक्ष्मा द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । बादरा द्विविधाः—पर्याप्तकाः अपर्याप्तका इति । द्वीन्द्रिया द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । त्रीन्द्रिया द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । चतुरिन्द्रिया द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । पञ्चेन्द्रियाः द्विविधाः—संज्ञिनोऽसंज्ञिनः । संज्ञिनो द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाः । असंज्ञिनो द्विविधाः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । एवं जीवस्थानानि वेदितव्यानि । तानि नामकर्मोदयापादितविशेषाणि एकेन्द्रियजातिसूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकनामोदयजनितानि चत्वारि जीवस्थानानि एकेन्द्रियेषु । द्वीन्द्रियादिषु बादरनामोदय एव । विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयनिर्वर्तितानि । पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकनामोदयलब्धभेदानि चत्वारि जीवस्थानानि ।

हितमितासन्दिग्धाभिधानं भाषासमितिः । ५ । मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम् । तद्द्विविधम्—स्वहितं परहितं चेति । मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितम् । स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं

आदि का लक्षण पूर्व में कह चुके हैं । उसमें एकेन्द्रिय दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । बादर दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । दो इन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक । तीन इन्द्रिय दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । चतुरिन्द्रिय दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के हैं । संज्ञी पर्याप्तक अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के हैं और असंज्ञी भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के हैं । इस प्रकार सर्व जीवसमास चौदह प्रकार के हैं । ये जीवसमास नामकर्म के उदय से होते हैं । इन १४ जीवसमासों में एकेन्द्रिय के चार जीवसमास, एकेन्द्रिय जाति सूक्ष्म बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से होते हैं । शेष दो इन्द्रिय आदि जीवसमास अपनी दो इन्द्रिय आदि जाति बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से होते हैं । अर्थात् विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति पर्याप्तक अपर्याप्तक बादर नामकर्म का उदय है और पंचेन्द्रियों में संज्ञी असंज्ञी, पर्याप्तक अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से निर्मित चार स्थान होते हैं । इस प्रकार जीवस्थान को जानकर उनकी रक्षा करते हुए गमन करना **ईर्या समिति है ।। ४ ।।**

हित, मित और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है । मोक्षपद प्राप्त करना जिसका प्रधान फल है, वह हित कहलाता है । स्वहित और परहित के भेद से हित दो प्रकार का है । अर्थात् स्व और पर को मोक्ष की ओर ले जाने वाले वचन स्व-परहितकारक कहलाते हैं । निरर्थक बकवासरहित वचन मित कहलाते हैं । स्फुटार्थ-व्यक्ताक्षर वचन असन्दिग्ध कहलाते हैं ।

१. –राः, तत्र. सू. मु. द. ब. ।

चाऽसन्दिग्धम् । एवंविधमभिधानं भाषासमितिः । तत्प्रपञ्चः—मिथ्याभिधानासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशङ्कितसंभ्रान्तकषायपरिहासाऽयुक्ताऽसभ्यनिष्ठुरधर्मविरोध्यदेशकालालक्षणातिसंस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानम् ।

अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः । ६ । अनगारस्य गुणरत्नसंचयसंवाहिशरीरशकटिं समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्गमोत्पादनैषणासंयोजनप्रमाणकारणाङ्गारधूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरितिसमाख्यायते ।

धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति प्रयतनमाददाननिक्षेपणासमितिः । ७ । धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमाददाननिक्षेपणा समितिः ।

इस प्रकार हित, मित और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है । इसका विस्तारपूर्वक कथन है कि मिथ्याभिधान, असूया, प्रियभेदक, अल्पसार, शंकित, संभ्रान्त, कषाययुक्त, परिहासयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्मविधायक अर्थात् धर्मविरोधी, देशविरोधी, कालविरोधी और चाटुकारिता (चापलूसी) आदि वचन-दोषों से रहित भाषण करना **भाषा समिति है ।। ५ ।।**

उद्गमादि दोषरहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । गुण रूपी रत्नों को ढोने वाली शरीर रूपी गाड़ी को समाधिनगर की ओर ले जाने की इच्छा करने वाले साधु का गाड़ी में ओंगन देने के समान या शरीर को धारण करने के लिये औषधि के समान, जठराग्नि के दाह को शमन करने के लिये बिना स्वाद लिये देश, काल तथा शक्ति आदि से युक्त अनिन्दित उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, कारण, अङ्गार, धूम और प्रत्यय, इन नव कोटियों से शुद्ध अन्न का ग्रहण करना एषणा समिति है । अर्थात् बत्तीस अन्तराय, छियालीस दोषरहित बिना आसक्ति से शुद्धाहार ग्रहण करना **एषणा समिति है ।। ६ ।।**

धर्मोपकरणों के रखने और उठाने में सावधानी रखना आदाननिक्षेपणसमिति है । धर्माविरोधी और परानुपरोधी ऐसे जो ज्ञानोपकरण (शास्त्र), संयमोपकरण (पिच्छिका), शौचोपकरण (कमण्डलु) आदि उपकरणों के ग्रहण करने में, रखने में सावधानी रखना, भूमि को देखकर, शोधकर सावधानीपूर्वक उठाना **आदाननिक्षेपणसमिति है ।। ७ ।।**

१. –विरता-मु द. ब. श. ।

त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेत्; न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । १३ । अथ मतम्–द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां पृथिवीकायिकादीनां स्थावराणां च प्राणिनां वधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति; तदपि नोपपद्यते; कुतः ? परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् । वक्ष्यते हि चारित्रभेदेषु परिहारविशुद्धिलक्षणं चारित्रमिति, तत्रान्तर्भावात् पृथक् संयमग्रहणमनर्थकं स्यात् । कस्तर्हि संयमः ।

समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । १४ । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्त[1]त्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः ।

अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धिः । १५ । एवं च कृत्वा अपहृतसंयमभेदसिद्धिर्भवति ।

है, क्योंकि समिति कायादि दोष की निवृत्ति के लिये है अतः विशिष्ट कायादि की प्रवृत्ति को भी संयम नहीं कह सकते, क्योंकि वह समिति में अन्तर्भूत हो जाती है ।। १२ ।।

आत्यन्तिक त्रस, स्थावर जीवों के वध का निषेध भी संयम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह परिहारविशुद्धि चारित्र में अन्तर्भूत हो जाता है । जिनका यह सिद्धान्त है कि दो इन्द्रियादि त्रस जीवों के और पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों के वध का आत्यन्तिक निषेध (सर्वथा त्रस, स्थावर जीवों की विराधना नहीं करना) संयम है तो यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि सर्वथा जीवों की विराधना का अभाव तो परिहारविशुद्धि चारित्र में अन्तर्भूत होता है । चारित्र के भेदों में परिहारविशुद्धि चारित्र का लक्षण आगे कहेंगे (शरीर से किसी भी जीव की विराधना नहीं होना परिहारविशुद्धि चारित्र है) । उसमें संयम का अन्तर्भाव हो जाने से संयम का पृथक् ग्रहण करना निरर्थक हो जायेगा । तो बतायें—

संयम किसे कहते हैं ?

समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार संयम है । ईर्या समिति आदि में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के जो समितियों की प्रतिपालना करने के लिये प्राणियों की पीड़ा का परिहार है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना है, उसे संयम कहते हैं । एकेन्द्रियादि प्राणियों की पीड़ा का परिहार करना, एकेन्द्रियादि जीवों का वध नहीं करना प्राणिसंयम है और शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में राग नहीं करना, अति आसक्ति नहीं रखना, इन्द्रिय विषयों का त्याग करना, इन्द्रियसंयम है ।। १४ ।।

अपहृत संयम में भेद की सिद्धि है । संयम दो प्रकार का होता है—एक उपेक्षा संयम दूसरा अपहृत संयम । देशकाल के विधान को जानने वाले, पर के अनुपरोध (स्वाभाविक) रूप

---

१. –त्परिषा मु. ब. ब. श्र. ।

संयमो हि द्विविधः–उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति । देशकालविधानज्ञस्य [1]परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः । अपहृतसंयमस्त्रिविधः–उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति । तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयतः उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य [2]जन्तून् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः ।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्धचष्टकोपदेशः । १६ । तस्याऽपहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्धचष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः । तद्यथा, अष्टौ शुद्धयः-भावशुद्धिः कायशुद्धिः विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः भिक्षाशुद्धिः प्रतिष्ठापनशुद्धिः शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति ।

तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता । तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत् ।

कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति । तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य ।

से शरीर से विरक्त, तीन गुप्तियों के धारक मुनि के रागद्वेष रूप चित्त की वृत्ति का नहीं होना, उपेक्षासंयम है । अपहृतसंयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है । प्रासुक वसतिका और आहार मात्र हैं बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके, ऐसे साधुओं का बाह्य जन्तुओं के आने पर अपने आपको वहाँ से हटाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है । मृदु उपकरण से जन्तुओं को हटाने वाले के मध्यम अपहृत संयम और अन्य उपकरणों की इच्छा करने वाले के जघन्य अपहृत संयम होता है ।। १५ ।।

उस अपहृत संयम का प्रतिपादन करने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश दिया गया है । भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि, ये आठ शुद्धियाँ हैं ।

भावशुद्धि—कर्मक्षयोपशमजनित मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो चित्त रागादि उपद्रव से रहित है, वह भावशुद्धि है । इस भावशुद्धि के होने पर आचार इस प्रकार चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवाल पर आलेखित चित्र कर्म ।

कायशुद्धि—समस्त आवरण और आभूषण से रहित शरीरसंस्कार से शून्य यथाजात मल को धारण करने वाली, अंग विकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति को कायशुद्धि

---

१. परोपरोधने-मु. । परोपरोधेन द. ब. । २. जीवान्-मु., द. ब. ।

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ।। २६ ।।
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।। २७ ।।

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा ।। २८ ।।
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् ।
मोहोत्पत्तिविपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ।। २९ ।।

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ।। ३० ।।
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः ।
अलिङ्गं चाऽप्रसिद्धं च तत्तेनानुपमं स्मृतम् ।। ३१ ।।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् ।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ।। ३२ ।।
इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः ।
यत्रन् सन्निहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः ।। ३३ ।।

।। इति तत्त्वार्थवार्त्तिके व्याख्यानालङ्कारे दशमोऽध्यायः समाप्तः ।।

(उदय) से जो इष्ट इन्द्रिय विषयों से सुखानुभूति होती है वह विपाकज सुख है और कर्म और क्लेश के विमोक्ष (नष्ट) होने से मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त होता है—वह मोक्षसुख है ।। २४-२७ ।।

कोई मोक्षसुख को सुप्तावस्था के समान मानते हैं, परन्तु सुप्तावस्था के समान सुख मानना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसुख में सुखानुभव रूप क्रिया होती रहती है और सुप्तावस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से श्रम-क्लम-मद, भय, व्याधि काम आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है और मोहोत्पत्ति का विकार है ।। २८-२९ ।।

सारे संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिससे उस सुख (मोक्षसुख) की उपमा दी जाय । अतः मोक्षसुख परम निरुपम है । लिंग और प्रसिद्धि में, अनुमान और उपमान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है परन्तु यह सिद्धों का सुख न तो लिङ्ग से अनुमित होता है न किसी प्रसिद्ध पदार्थ से उपमित होता है अतः यह सिद्धों का सुख अलिङ्ग एवं अप्रसिद्ध होने से निरुपम कहा है ।। ३०-३१ ।।

वह सिद्धों का सुख भगवान अर्हन्त के प्रत्यक्ष है और सर्वज्ञ के द्वारा कथित है अतः हम छद्मस्थजन उन्हीं के वचनप्रामाण्य से उनके अस्तित्व को जानते हैं । उनका अखण्ड स्वरूप अल्पज्ञानी की परीक्षा का सर्वथा विषय नहीं हो सकता है । इस प्रकार उत्तम पुरुषों ने तत्त्वार्थसूत्रों का भाष्य कहा है । इसमें तर्क है और न्याय तथा आगम से निर्णय है ।। ३२-३३ ।।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्त्तिक व्याख्यानालंकार में दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ । 卐 卐 卐

द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः[1]

(पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर)

[**'द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः'** के अभिप्राय को लेकर काफी ऊहापोह हुई है । पं. जवाहरलालजी ने इस सम्बन्ध में **'दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण'** में प्रकाशित विविध विद्वानों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए अपना अभिप्राय प्रकट कर यह आलेख तैयार किया है, जिसे सबके लाभार्थ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । **-सं.**]

"भावलिंग से सब मुनि निर्ग्रन्थ अर्थात् अपरिग्रही और वस्त्ररहित होते हैं । बाह्य चिह्न या कार्य से उनके अनेक भेद हो सकते हैं, जैसे—आहार करने वाले मुनि, विहार करने वाले मुनि, अध्ययन करने वाले मुनि, आदि । **द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः** का यही अभिप्राय है ।"

—(स्व.) क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी, दि. जैन. सि. द. ३।७६.

"शरीर-संस्कार कृत द्रव्यलिंग भेद को प्राप्त हो जाता है । यथा—मुनिराज हाथ-पैर घुटने से ऊपर नहीं धोते हैं, पर किसी मुनि ने विशेष गर्मी के कारण घुटनों के उपरिम भाग—जंघा एवं अन्य अंगोपांगों पर गीले हाथ फेरे । इसी तरह संघ की वैयावृत्ति आदि करने के हेतु से अथवा पठन-पाठन आदि के उद्देश्य से कोई मुनि एकान्तर, बेला, तेला आदि उपवास नहीं करता है, केवल चौबीस घण्टे में एक बार एकासन पर आहार-जल ग्रहण करता है, इसमें न्यूनाधिकता नहीं करता । इसके सिवा वह और कोई संस्कार नहीं करता । इत्यादि प्रकार से बाहर में अनुभव में आने योग्य और भी द्रव्यलिंग के भेद जानने चाहिए ।"

—(स्व.) आचार्यश्री कुन्थुसागरजी महाराज, वही पृ. १२६.

"द्रव्यलिंग-नाग्न्य रूप सब में एकसा रहने पर भी बाह्य में प्रदर्श्य भेद हैं । यथा—किसी के उत्तरगुण तो हैं ही नहीं, परन्तु कभी कहीं व्रतों की भी परिपूर्णता नहीं है । किसी के व्रत परिपूर्ण

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक-नवम अध्याय, सूत्र ४७, पृ. सं. ६६०, पंक्ति ३ ।

हैं तो उत्तरगुण परिपूर्ण नहीं हैं। किसी के मूलव्रत और उत्तरव्रत दोनों हैं, परन्तु कभी किसी तरह उत्तरगुण विराधित होते हैं, इत्यादि द्रव्यलिंग के भेद हैं। अभिप्रायतः ·····मूलगुण या उत्तरगुणों की अपेक्षा द्रव्यलिंग जुदा-जुदा है।

"किसी ने मुनि पर कपड़ा डाल दिया या पहना दिया तो यह एक उपसर्ग है। मुनि ने स्वेच्छा से कपड़ा धारण नहीं किया है इसलिए भावलिंग उनके तदवस्थ रहता है और देखने वालों को उस समय द्रव्यलिंग अनग्न रूप दिखेगा, अतः ऐसी परिस्थिति में नग्नद्रव्यलिंग नहीं मिलता। अतएव द्रव्यलिंगतः भाज्य हुए। स्मरण रहे कि ध्यानापन्न मुनि पर किसी ने वस्त्र डाल दिया तो वह उपसर्ग है, न कि अपवाद।"

—(स्व.) पं. पन्नालालजी सोनी, वही पृ. १६३-६५.

"किसी मुनि का शरीर दुबला, किसी का मोटा; किसी का शरीर लम्बा, किसी का छोटा (ठिगना), इत्यादि भिन्न-भिन्न शरीराकृतियाँ द्रव्यलिंगगत भिन्नता की सूचक है।"

—(स्व.) पं. इन्द्रलालजी शास्त्री वही पृ. ८२.

"**द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः** अर्थात् द्रव्यलिंग की अपेक्षा मुनि नाना शरीराकृति वाले होते हैं।"

—(स्व.) प. नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य, आरा; वही ३।६८.

"लिंगशब्देन निर्ग्रन्थलिंगेन सिद्धिर्भवति। भूतनयापेक्षया सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भवति। कथं—साहरणासाहरणेति वचनात्। पूर्वं निर्ग्रन्थः पश्चात् उपसर्गाभरणादिकं केनचित् कृतम्। यथा—त्रयः पाण्डवाः साभरणाः मोक्षं गताः। उपसर्गवशात् ग्रन्थत्वं पाण्डवादिवत्।"

(स. सि. १०।९।३२० की टिप्पण)

"उक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि मुक्ति निर्ग्रन्थ लिंग से ही होती है तथापि उपसर्गादि की अपेक्षा सग्रन्थ लिंग से भी मुक्ति कही है, पर वैधानिक रूप से नहीं। इस तरह द्रव्यलिंग कथंचित् सग्रन्थ व निर्ग्रन्थ के भेद से द्विविध बन जाता है।"

—(स्व.) पं. दयाचन्दजी शास्त्री, बीना; वही ३।५७.

"**द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः** का अभिप्राय तो यह है कि कोई मुनि (वकुश) अपना शरीर साफ (सुन्दर) बनाए रखने में दत्तचित्त है तो किन्हीं मुनियों का शरीर मैला सा रहता है। अतः किन्हीं का द्रव्यलिंग आकर्षक और किन्हीं का अनाकर्षक होता है। बलभद्र, जीवन्धर आदि सरीखे मुनियों का द्रव्यलिंग इतना आकर्षक होता है कि स्त्री-पुरुष उन्हें देखकर मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार असुन्दर द्रव्यलिंग वाले भी मुनि होते हैं।"

—(स्व.) पं. अजितकुमारजी शास्त्री, वही १।२३७.

"पूज्य भास्करनन्दि की सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति (मैसूर प्रकाशन) के नवम अध्याय सूत्र ४७ की टीका में पत्र २२४ पर लिखा है—"लिंगं द्विविधं, द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति। भावलिंगं प्रतीत्य पञ्चापि लिंगिनो भवन्ति, सम्यग्दर्शनादेः सद्भावात्। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः, केषांचित्, क्वचित् कदाचित् कुतश्चित् कथंचित् प्रावरणसद्भावात्। **अर्थ**—लिंग दो प्रकार का है—द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग का आश्रय करके पाँचों ही लिंगी है क्योंकि वे सम्यग्दर्शनादि गुण सहित हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा कोई मुनिराज कहीं, किसी समय, किसी कारण, किसी प्रकार आवरणयुक्त हो सकते हैं।

"ग्रन्थ की इस लिखावट से यह बात मालूम पड़ती है कि भक्ति, उपसर्ग आदि वश जो मुनिधर्म के लिए योग्य या अभिप्रेत नहीं है, ऐसे कारण कभी बन जाते हैं। अतः भले ही पाँचों में स्वरूप (द्रव्यलिंग) दिखने की अपेक्षा भेद हो सकता है परन्तु वास्तविक स्वगृहीत जातरूप की अपेक्षा से (विकल्पपूर्वक वस्त्रादि ग्रहण नहीं होने से अथवा उन्हें रखने का भाव भी नहीं होने से) कोई भी भेद नहीं है। इस प्रकार द्रव्यलिंग भाज्य है। अथवा, कोई आचार्य है तो कोई उपाध्याय है, कोई साधारण मुनि। इसी तरह बालमुनि, वृद्धमुनि, श्रान्तमुनि, ग्लानमुनि, शैक्ष्यमुनि आदि विविध प्रकार के मुनि होते हैं। इसी तरह कोई एकलविहारी भी होते हैं। ये सब द्रव्यलिंगगत भेद है।"

—(स्व.) पं. रामप्रसादजी सिद्धान्तशास्त्री, बम्बई, वही १।२८.

"भावलिंगं प्रतीत्य पञ्चापि निर्ग्रन्थलिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः"; गम्भीर विचार करने पर प्रकरण को देखते हुए यह प्रतीत होगा कि भावलिंग के स्थान पर द्रव्यलिंग पाठ होना चाहिए। पहले जब लिंग के द्रव्यलिंग और भावलिंग इस प्रकार दो भेद किए तब पहले वर्णन भी द्रव्यलिंग का ही क्रम प्राप्त है, न कि भावलिंग का। अतः भावलिंग के स्थान में द्रव्यलिंग तथा द्रव्यलिंग के स्थान में भावलिंग पाठ होना चाहिए।

"और तब, अर्थ ऐसा होगा कि द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुरुषलिंगधारी के ही निर्वाण होगा। भावलिंग की अपेक्षा कोई भी लिंग (स्त्री, पुरुष या नपुंसकवेद) का धारी निर्वाण को प्राप्त हो सकता है।

"पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि के वाक्य 'द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव' (पृ. ३२०) में स्थित एवकार से अन्य द्रव्यलिंग निषिद्ध हो जाते हैं।"

—पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, सिवनी; वही ३।२०३

स्वर्गीय पण्डित शान्तिराजजी न्यायतीर्थ ने भी दिवाकरजी के समान ही अशुद्ध पाठ होने का [illegible] (देखो, वही ग्रन्थ ३।२१०)। स्वर्गीय पण्डित लाला पोस्तीलालजी के

एतद्विषयक निम्नलिखित वाक्य (पं. सुमेरुचन्द्रजी के अभिमतानुसार ही) द्रष्टव्य हैं—"पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ व स्नातक इस प्रकार निर्ग्रन्थ मुनि पाँच प्रकार के होते हैं। ये सभी नग्न (द्रव्यतः निर्ग्रन्थ) ही रहते हैं। हाँ, उनके भावों में (भावलिंग में) भेद सम्भव है। ये सभी पूजनीय हैं। उलटा अर्थ नहीं करना चाहिए।"

मेरी अपनी मान्यता है कि 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' पाठ ही रहे तब भी कोई आपत्ति नहीं है। सबके अन्तरंग में भावलिंग रहते हुए भी बाहर से द्रव्यलिंग भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। जैसे—(१) किसी दिगम्बर मुनि के कमण्डलु-पिच्छिका होते हैं, (२) किसी के नहीं होते हैं। (३) किसी के नग्न शरीर पर किसी के द्वारा भक्ति या द्वेषवश कपड़ा डाला जाने पर उन ध्यानस्थ मुनि के उस उपसर्गकाल में सवस्त्रपना भी है और अन्तरंग से तो भावलिंग है ही। (४) इसी तरह किसी दिगम्बर मुनि पर किसी दुष्ट द्वारा आभूषणादि से भी बाह्य में दृश्यमान सग्रन्थता कर दी गई हो। इत्यादि प्रकार से द्रव्यलिंग नाना प्रकार के नजर आ सकते हैं। इसी को स्पष्ट किया जाता है—

(१) सामान्यतः सभी मुनियों के कमण्डलु-पिच्छिका दोनों होते है (वर्तमान में हम देखते भी हैं)।

(२) तीर्थंकरों के मुनि अवस्था में कमण्डलु-पिच्छी नहीं होते। आगम प्रमाण इस प्रकार हैं—**महापुराणादि** (सर्ग १७-१८) में ऋषभादि की दीक्षा का विस्तृत वर्णन है पर कहीं भी पिच्छी-कमण्डलु का उल्लेख नहीं है। **भावपाहुड** गा. ७९ की श्रुतसागरी टीका में लिखा है—"पिच्छी-कमण्डलुरहितं लिङ्गं कश्मलमित्युच्यते तीर्थङ्करपरमदेवात्तप्तर्द्धेविना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।" अर्थात् पिच्छी-कमण्डलु रहित साधुवेश ठीक नहीं किन्तु तीर्थंकर परमदेव, तप्तऋद्धि के धारक मुनि और अवधिज्ञान से युक्त मुनियों को इनकी आवश्यकता नहीं रहती। **वामदेवकृत भावसंग्रह** में लिखा है—"अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ॥२७६॥" अर्थात् अवधिज्ञान के बाद पिच्छिका आवश्यक नहीं। **नियमसार** गा. ६४ की टीका में लिखा है कि उपेक्षासंयमियों के पुस्तक, कमण्डलु आदि बाह्य उपकरण नहीं होते। **असगकृत महावीरचरित** सर्ग १७, श्लोक १२७ में तीर्थंकरों के परिहारविशुद्धि संयम बताया है (अतः उनके पिच्छीकमण्डलु नहीं होते)। माथुर संघ तो निःपिच्छक ही था।

तत्त्वार्थसूत्र (पं. फूलचन्द शास्त्री कृत टीका) अ. ९ सू. ४७ पृ. ४५१ पर लिखा है—निर्ग्रन्थों का द्रव्यलिंग एक सा नहीं होता। किसी के पिच्छी कमण्डलु होते हैं, किसी के नहीं होते। **प्रेमीजी कृत जैन साहित्य और इतिहास (द्वि. सं.)** पृ. ४९४ पर लिखा है—"तीर्थङ्करानुकारमिच्छतां मठे

निवसनं पिच्छीकमण्डलुधारणं·····सर्वमविधेयं स्यादिति।" अर्थात् तीर्थंकर रूप के अभिलाषियों का मठ में रहना, पिच्छी-कमण्डलु धारना उचित नहीं। **जयसेनप्रतिष्ठापाठ** पृ. २७१ पर लिखा है—"अत्र कमण्डलुपिच्छिकादानं तीर्थंकरस्य शौचक्रियाजीवघाताभावाच्च न कर्तुम् प्रभवति।" अर्थात् शौचक्रिया और जीवहिंसा के अभाव के कारण तीर्थंकरों के कमण्डलु-पिच्छी नहीं होते। **समयप्रवाह (प्रतिष्ठाचार्य दुर्गाप्रसादजी)** पृ. १६ में लिखा है कि भगवान की दीक्षा के समय पिच्छी-कमण्डलु नहीं होते। **विचारसारप्रकरण** पृ. ४७ : "न वि लेइ जिणा पिच्छी, न वि कुंडी वल्कलं च कडसारं।" तीर्थंकर पिच्छी, कमण्डलु, चटाई आदि नहीं रखते।[1]

(३) कोई मुनिराज ध्यान में लीन हैं और किसी ने आकर उनके शरीर पर कपड़ा लपेट दिया। ऐसी अवस्था में उक्त मुनि द्रव्यतः अनग्न होते हुए भी उनके भावलिंग के बने रहने में बाधा नहीं आती। कहा भी है—"कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति, तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतम्। आभरणादिकं वा कृतं तथाऽप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात्? इति चेत्, बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाण्डवादिवत्।" (**समयसार** गा. ४३६ ता. वृ.)

(४) पाण्डवों के तपःकाल में दुर्योधन के वंश के किसी पापी युधवरोधन नामक मनुष्य ने दुस्सह उपसर्ग किया। इसने लोहे के मुकुट, कड़े, कटिसूत्र आदि आभूषण बनवा कर और इन्हें अग्नि में तपा कर युधिष्ठिर आदि पांचों मुनियों के मस्तक आदि स्थानों में पहना दिए·····। उस समय उनका द्रव्यलिंग तो सग्रन्थ हो गया था तथापि वे भावतः निर्ग्रन्थ ही थे। (ह. पु. ६५।१९-२१ पृ. १०३१-३२; पाण्डवपुराण २५।५२-१३९, समयसार ता. वृ. गाथा ४३६)

(५) इसी तरह सामान्यतः दिगम्बर मुनि का द्रव्यलिंग जटाओं से रहित होता है परन्तु दीर्घकाल तक अचल होकर तप करने के कारण जटाएँ भी आ जाती हैं। कहा भी है—"हवा से उड़ी हुई आदिनाथ भगवान की अस्त-व्यस्त जटायें थीं। (प. पु. ३।२८७-८८, म. पु. १।९) इसीलिए आदिनाथ भगवान की प्रतिमायें जटामुकुट रूप शेखर से सहित भी होती हैं। (आदि जिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ—ति. प. ४।२३) इसी तरह बाहुबली मुनिराज की भी स्थिति थी। "दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीं केशवल्लरीः। सो अवग्गादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् म. पु. ३६।१०९। कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केश रूपी लताओं को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पों के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष के समान लगते थे। बाहुबली मुनिराज के शरीर पर भी लताएँ हो गई थीं। उनका वह शरीर मानों लताओं से युक्त

१. "तीर्थंकरों के मुनि-अवस्था में कमण्डलु पिच्छिका नहीं होते।" —इस सन्दर्भ के सभी प्रमाण श्रीयुत पं. रतनलालजी कटारिया (केकड़ी) ने भेजे थे। उन्हें साभार यहाँ उद्धृत किया गया है।